बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 26-04-18

व्हिसल ब्लोअर के दौर में देश का कारोबारी जगत

कनिका दत्ता

दुनिया भर की कंपनियों में उनके कामकाज के विभिन्न पहलुओं की देखरेख और निगरानी आदि करने के लिए अंकेक्षक, स्टॉक एक्सचेंज, बोर्ड, नियामक, राजस्व और अन्य प्रवर्तन निकाय होते हैं। इनमें से किसी ने धोखाधड़ी रोकने के लिए कुछ खास नहीं किया। सन 1990 के दशक के आखिर और 2000 के दशक के आरंभ के कुछ प्रमुख वैश्विक मामलों पर नजर डालें तो ऐसा ही लगता है। बैरिंग्स, एनरॉन-आर्थर एंडरसन, वर्ल्ड कॉम, केमार्ट आदि कुछ ऐसे ही मामले हैं। बीते दो दशक के दौरान व्हिसल ब्लोअर के रूप में गड़बडिय़ां उजागर करने वाली एक नई कौम सामने आई है। क्या ये कारोबारी प्रशासन के ढांचे को बदल सकते हैं?

सजग कारोबारी घरानों के प्रशासनिक ढांचे में व्हिसल ब्लोअर की शक्ति को पहचाना जाने लगा है। अधिकांश बड़ी भारतीय आईटी फर्म और बैंकों ने कर्मचारियों के लिए आचार संहिता में व्हिसल ब्लोअर नीति शामिल कर ली है। इसमें दो राय नहीं है कि ऐसी व्यवस्था का उद्देश्य संस्थान को संभावित घोटालों से अवगत रखने का है। एक ओर कई ऐसे संस्थान हैं जो कारोबारी प्रदर्शन पर तयशुदा मानकों के अनुरूप दृष्टिïं रखते हैं, वहीं व्हिसल ब्लोअर के बारे में कुछ तय ढंग से नहीं कहा जा सकता है। कोई भी कर्मचारी जिसने आचार संहिता पर हस्ताक्षर किए हों या फिर संगठन के बाहर का कोई व्यक्ति जो अंशधारक, आपूर्तिकर्ता या निवेशक आदि हो वह यह काम कर सकता है। इन दिनों आईसीआईसीआई बैंक की सीईओ चंदा कोछड़ और उनके पति के कारोबारी सौदों के बीच हितों के टकराव को लेकर जो आरोप हैं उनके मूल में एक व्हिसल ब्लोअर है जिसने 2016 में इसका खुलासा किया था। व्हिसल ब्लोअर अरविंद गुप्ता कोई असंतुष्ट कर्मचारी नहीं हैं बल्कि वह वीडियोकॉन समूह के एक पुराने निवेशक हैं। उन्होंने कहा कि वह दीपक कोछड़ की कंपनियों और वीडियोकॉन के वेणुगोपाल धूत के बीच पुराने लेनदेन और हस्तांतरण को देखकर चकित रह गए थे। उन्होंने कोई खुफिया जानकारी नहीं जुटाई बल्कि उन दस्तावेजों का अध्ययन किया जो सार्वजनिक रूप से उपलब्ध थे लेकिन किसी ने जिन पर ध्यान नहीं दिया था। उन्होंने यह जवाबदेही अपने ऊपर क्यों ली? यह स्पष्ट नहीं है लेकिन देश के निजी क्षेत्र के सबसे बड़े बैंक को लेकर उपजे इस विवाद ने इसके संचालन की उन कमियों को उजागर किया है जिन्हें उसे जल्दी से जल्दी दूर करना होगा।

अंदरूनी व्हिसल ब्लोअर द्वारा किए गए खुलासे केवल प्रतिष्ठा को ही नुकसान पहुंचाएं यह भी आवश्यक नहीं। दिनेश ठाकुर का मामला याद कीजिए। उन्होंने रैनबैक्सी के प्रवर्तकों द्वारा कंपनी को जापानी कंपनी दाइची सांक्यो को बेचे जाने के बाद यह खुलासा किया था कि कंपनी औषधि सुरक्षा परीक्षणों में गड़बड़ी करती रही है। यह उस वक्त किसी भी भारतीय दवा कंपनी का सबसे बड़ा सौदा था और इस खुलासे के बाद अमेरिकी संघीय औषधि प्रशासन न केवल नाराज हुआ बल्कि उसने रैनबैक्सी समेत तमाम भारतीय औषधि उद्योग की जांच कड़ी कर दी।

ठाकुर को इस सजगता का इनाम भी मिला। अमेरिका ने रैनबैक्सी पर 50 करोड़ डॉलर का जुर्माना लगाया और ठाकुर को 4.8 करोड़ डॉलर की राशि इनाम में दी। ध्यान देने वाली बात है कि भारतीय औषधि नियामक घरेलू बाजार में होने वाले

छल कपट को लेकर उनके ऐसे ही खुलासों को लेकर नाखुश ही रहा। इस घोटाले से भारत की कारोबारी प्रतिष्ठा पर भी आंच आई। बाद में दाइची ने भी रैनबैक्सी को सन फार्मा को बेच दिया। व्हिसल ब्लोअर ने इन्फोसिस को जितना प्रभावित किया उतना शायद ही कोई अन्य भारतीय कंपनी इनसे प्रभावित हुई होगी। इन्फोसिस में 2003 से ही व्हिसल ब्लोअर पॉलिसी है। वर्ष 2013 में एक अमेरिकी कर्मचारी ने वीजा से जुड़ी धोखाधड़ी उजागर की थी। इसके बाद संघीय जांच आरंभ हुई और बाद में एक समझौता हुआ जिसमें व्हिसल ब्लोअर को पुरस्कृत किया गया। वर्ष 2016 के बाद से इन्फोसिस एक अन्य विवाद में उलझी हुई है जो कंपनी के तत्कालीन सीईओ विशाल सिक्का द्वारा एक इजरायली कंपनी के अधिग्रहण से जुड़ा था। इस मामले में एक गुमनाम शिकायत की गई और ऐसा लगता है कि मामले का व्हिसल ब्लोअर कोई आर्थिक लाभ नहीं चाहता। हाल ही में उसने इस सौदे की जांच शेयर बाजार नियामक से कराने की मांग की है।

ये तीन प्रमुख मामले हैं लेकिन इनसे कारोबारी प्रशासन के और जवाबदेह होने की भावना नहीं उत्पन्न होती। ध्यान रहे कि इन तीनों मामलों में ऐसी कंपनियां शमिल हैं जो वैश्विक निवेशकों और ग्राहकों वाली बड़ी कंपनियां हैं जिन्हें पेशेवर अंदाज में चलाया जाता है। परंतु भारतीय कारोबारी जगत काफी हद तक परिवार संचालित है। यह एक ऐसा ढांचा है जो कर्मचारियों को सच बोलने के लिए कतई प्रोत्साहित नहीं करता। टाटा समूह के मामले में हम ऐसा देख चुके हैं। भारत में जहां सरकारी कंपनियां तक सार्वजनिक जांच परख के लिए उपलब्ध नहीं हैं वहां निजी कारोबारी जगत स्वैच्छिक पारदर्शिता की अपेक्षा करना बेमानी होगा। देश के एकदम शुरुआती व्हिसल ब्लोअर में भारतीय स्टेट बैंक के एक मझोले दर्जे के कर्मचारी का नाम आता है जिसने 1990 के दशक में हर्षद मेहता की वित्तीय अनियमितताओं को उजागर किया था। आज उसे कोई याद नहीं करता। इंडियन ऑयल के षणमुगम मंजूनाथ जैसे कई व्हिसल ब्लोअर को तो अपनी जान देकर कीमत चुकानी पड़ी। संसद ने व्हिसल ब्लोअर संरक्षण अधिनियम पारित तो किया है लेकिन अभी उसे लागू होना है। इसे जिस तरह कमजोर किया गया उससे यही अंदाजा मिलता है कि सरकारी संस्थानों या परियोजनाओं की अनियमितता उजागर करने वालों को शायद ही कोई प्रोत्साहन मिले। अगर सरकारी व्हिसल ब्लोअर को नजीर मानें तो उन्हें अपनी जान के लिए डरना चाहिए।

Date:26-04-18

नए सिरे से रिश्ते

संपादकीय

चीन के वुहान शहर में प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी और चीन के राष्ट्रपति शी चिनफिंग के बीच शिखर बैठक होने वाली है। गत वर्ष सिक्किम की सीमा के निकट डोकलाम में दोनों देशों की सेनाओं के बीच तनाव के बाद यह ऐसी पहली बैठक है। वुहान शिखर बैठक को दोनों देशों के बीच द्विपक्षीय रिश्तों के पुनस्थापन के अवसर के रूप में देखा जा रहा है। बीते वर्षों में हमारे आपसी रिश्ते तेजी से कमजोर हुए और डोकलाम इसका कटुतम चरण था। इस पुनस्थापन के पहले संकेत तब मिले थे जब गत वर्ष दिसंबर में देश के राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार अजित डोभाल ने विशेष भारतीय प्रतिनिधि के रूप में चीन के राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार यांग जिकेई से मुलाकात की। इसके बाद फरवरी में भारतीय विदेश सचिव विजय

गोखले ने चीन की यात्रा की। कहा गया कि इस यात्रा को समय पूर्व आयोजित किया गया ताकि सरकारी अधिकारियों को यह चेतावनी दी जा सके कि वे दलाई लामा को भारत में शरण लेने की 60वीं वर्षगांठ के कार्यक्रमों से दूर रहें। तब से अब तक कई वरिष्ठां भारतीय मंत्री चीन की यात्रा पर जा चुके हैं।

आखिर रिश्तों की नए सिरे से स्थापना के पीछे क्या वजह है? क्या इसके पीछे कोई सामरिक नीति या विचार है? इसके पीछे दो वजह हो सकती हैं। पहली, भारत सरकार की यह इच्छा कि वह सीमा पर किसी तरह की दिक्कत में न पड़े या निकट आ रहे आम चुनाव को देखते हुए चीन के साथ किसी तरह का आमना-सामना नहीं हो। ऐसी घटनाएं अतीत में इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में अतिशय राष्ट्रवाद की उद्वेलक बनाकर प्रस्तुत की जाती थीं। अब चुनावी साल में सरकार को ऐसी किसी घटना पर वह प्रतिक्रिया देनी पड़ सकती है जिसे अन्यथा समझदारी नहीं माना जाएगा। अगर ऐसा नहीं किया गया तो उसकी राष्ट्रवादी छवि को कुछ नुकसान पहुंच सकता है।

दूसरी प्रेरणा यह हो सकती है कि भारत ने चीन के समक्ष अपनी क्षमताओं का तार्किक आकलन किया हो। भारत की सैन्य शक्ति कमजोर है, वह जरूरी हथियार और प्लेटफॉर्म खरीदने या उनके उन्नयन में नाकाम रहा है और लंबे समय तक बिना किसी सुसंगत सैन्य नीति के उसका परिचालन हुआ। डोकलाम में उसे पहाड़ी इलाके का फायदा मिला। अन्य जगहों पर दोनों देशों की क्षमताओं का अंतर स्पष्टां नजर आएगा। भारत मालदीव की घटनाओं को अपने पक्ष में प्रभावित करने में नाकाम रहा। यह भी इसका एक उदाहरण है। इस बीच भारत को यह भी लगा है कि पाकिस्तान के राज्य समर्थित आतंकवाद को लेकर चीन का धैर्य अनंत काल तक अनुकूल नहीं बना रह सकता। ऐसा भी नहीं लगता कि भारत को नियंत्रित रखना या उसकी आकांक्षाओं को सीमित रखना चीन की रणनीति का मुख्य हिस्सा हो। एक बेल्ट, एक मार्ग पहल मोटे तौर पर आंतरिक आर्थिक और राजनीतिक वजहों से प्रेरित है। इस ढांचे के तहत दक्षिण एशिया और हिंद महासागर क्षेत्र में चीन की बढ़ती छाप भी शायद भारत की केंद्रीय चिंता न हो। इसलिए भारत ने कूटनयिक स्तर पर गुंजाइश छोड़ रखी है। ऐसे में कई लोग कह सकते हैं कि चीन के साथ मैत्री की नई शुरुआत भारत के हित में है।

इसके व्यापक और दीर्घकालिक प्रभाव क्या होंगे यह देखना होगा। दशकों तक पश्चिमी देश और भारत यह मानते रहे हैं कि मजबूत, समृद्घ और लोकतांत्रिक भारत चीन के साथ शक्ति संतुलन का माध्यम बनेगा। भारत ने इस धारणा का पूरा लाभ लेने की कोशिश की है। यह उसके लिए अन्य देशों से सहायता लेने का आधार बनता है वह भी बिना अपनी सामरिक स्वायत्तता के साथा समझौता किए। अब यह धारणा उस कदर तथ्यात्मक नहीं नजर आती। भारत के लिए इसके निहितार्थ स्पष्ट हैं।

दैनिक भास्कर

Date: 26-04-18

आसाराम प्रकरण से हमारी व्यवस्था के लिए सबक

इसके बावजूद ऐसा लगता नहीं कि देश में ऐसे बाबाओं के प्रति जनसाधारण का जुनून कुछ कम हुआ हो।

संपादकीय

देशभर से महिलाओं और बालिकाओं पर दुराचार संबंधी बढ़ती खबरों के बीच ऐसे ही मामले में आसाराम बापू को अदालत से उम्रकैद की सजा मिलने से कानून और न्याय व्यवस्था में भरोसा और मजबूत होगा। सराहना उत्तर प्रदेश के शाहजहांपुर की उस नाबालिग के परिवार की भी करनी होगी, जिसने सारी धमकियों के बीच अपनी लड़ाई जारी रखी। आसाराम उन बड़े बाबाओं में से है जो हाल के दिनों में कड़ी कानूनी व न्यायिक कार्रवाई के भागी बने हैं। इसके बावजूद ऐसा लगता नहीं कि देश में ऐसे बाबाओं के प्रति जनसाधारण का जुनून कुछ कम हुआ हो।

दरअसल, इसकी जड़ें कहीं ओर हैं। भारत के आर्थिक विकास की कितनी ही बात की जाए पर लगता नहीं कि यह आर्थिक तरक्की आमजन को सामाजिक न्याय व समानता देने में सफल रही है। इससे यह भी संकेत मिलता है कि शासन के अधिकृत संस्थान अपनी जिम्मेदारियां निभाने में नाकाम रहे हैं। इसके कारण एक तरफ ऐसे बाबाओं को कानून से ऊपर अपनी सत्ता चलाने का मौका मिलता है तो दूसरी तरफ न्याय व राहत की तलाश में जनसाधारण इनकी ओर आकर्षित होते हैं। जितना देश समृद्ध होता जा रहा है। उसी अनुपात में ऐसे लोगों की संख्या बढ़ी है, जिन्हें महसूस होता है कि वे पीछे छोड़ दिए हैं।

यहां कार्ल मार्क्स का यह कहना सही है कि धर्म आम लोगों के लिए अफीम आज के समय में उसे अपनी सारी समस्याओं का समाधान इसी में नज़र आता है। सामाजिक विषमता के अलावा यह प्रवृत्ति शिक्षा की कमजोर गुणवत्ता की ओर भी इशारा करती है। वरना आमजन के साथ उच्चशिक्षित और समृद्ध तबका भी क्यों ऐसे बाबाओं के पीछे भागता। हमारी शिक्षा व्यवस्था समाज में अंधविश्वास व कुरीतियों के खिलाफ एक वैज्ञानिक सोच का वातावरण बनाने में नाकाम रही है, क्योंकि इसे अच्छा नागरिक बनाने की बजाय अच्छा करिअर बनाने की दिशा में मोड़ दिया गया है।

आप अगर गौर से देखेंगे तो ऐसे बाबाओं के पास आध्यात्मिक ज्ञान पाने के लिए जाने वाले बहुत ही कम होंगे, अधिसंख्य लोग आर्थिक व सेहत संबंधी समस्याओं और अंधविश्वास के कारण जाते हैं। जाहिर है इसका संबंध आर्थिक विषमता व स्वास्थ्य व शिक्षा की कमजोर व्यवस्था है। इन्हें मजबूत बनाकर ही हम ऐसी स्वस्थ व वैज्ञानिक सोच वाले समाज का निर्माण कर सकते हैं, जहां ऐसे बाबाओं के लिए कोई स्थान नहीं होगा।

राष्ट्रीय सहारा

Date: 25-04-18

माकूल समय की चुनौतियां

पुष्पेश पंत

प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी की चीन यात्रा इस कारण बेहद महत्त्वपूर्ण समझी जा रही है कि इस समय भारत-चीन संबंधों में तनाव का दौर चल रहा है। पिछले कई महीनों से यह संभावना एक बार फिर प्रकट हो रही है कि एक नई शुरुआत इस अनौपचारिक शिखर वार्ता से हो सकती है। यों अंतरराष्ट्रीय राजनय में कुछ भी अनौपचारिक नहीं होता। जिसे अनौपचारिक कहा जाता है उसकी तैयारी विधिवत की जाती है, भले ही इसे जगजाहिर नहीं किया जाता। इस बार भी मोदी के चीन जाने के पहले भारतीय विदेश मंत्री चीनी विदेश मंत्री से भेंट कर चुके हैं, और भारत के राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार अजित डोभाल अपने समकक्ष से बातचीत कर हाल में भारत लौटे हैं। इन दोनों ने मोदी की चीन यात्रा की जमीन तैयार की है, इसमें कोई संदेह नहीं। सात-आठ महीने तक लगातार जारी डोकलाम संकट ने यह बात साफ कर दी थी कि चीन के तेवर शी के नेतृत्व में नरम नहीं जुझारू ही रहने वाले हैं।

चीन के विदेश मंत्रालय के अधिकारी बारम्बार घोषणा करते रहे थे कि चीन अपनी एक इंच जमीन पर भी किसी देश को कब्जा नहीं करने देगा। जो चीन से टकराएगा उसे सबक सिखलाया जाएगा। इन चेतावनियों और धमकियों के जवाब में भारत के सेनाध्यक्ष और कुछ अन्य अधिकारियों ने मुंहतोड़ जवाब देने में देरी नहीं की। घोषणा करते हुए कि आज का हिन्दुस्तान 1962 का भारत नहीं और चीन ने कोई दुस्साहस किया तो उसे इसका खमियाजा भुगतना पड़ सकता है। जब चीन ने डोकलाम से पीछे हटने का फैसला किया तो भारत में कई देश प्रेमियों ने इसे अपनी जीत समझा। उस वक्त भी आलोचकों का कहना था कि चीन को भारत सरकार ने निश्चय ही परदे के पीछे कुछ आश्वासन दिया है, तभी चीन तनाव घटाने के लिए तैयार हुआ है। इस मत को निराधार भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसी समय भारत सरकार के काबीना सचिव ने केंद्रीय मंत्रियों और वरिष्ठ सरकारी अवसरों को एक पत्र में यह सलाह दी कि दलाईलामा के भारत में शरण लेने की 60वीं जयंती के अवसर पर आयोजित जलसों में वह भाग न लें। कई स्वाभिमानी भारतीयों को यह लिखित सलाह कम आदेश ज्यादा खटका था क्योंकि अब तक भारत दलाई लामा को आदरणीय मेहमान बतलाता रहा था।

बारम्बार यह भी रेखांकित करता था कि भारत में रहने वाले तिब्बतियों को शांतिपूर्ण ढंग से तिब्बत में मानवाधिकारों के हनन के बारे में अपनी असहमति और आक्रोश प्रकट करने की पूरी स्वतंत्रता भारतीय जनतंत्र में है। इस मामले में चीन की संवेदनशीलता के प्रति अचानक सजग होना निश्चित ही नीति में बदलाव का लक्षण समझा जा सकता है। जब 2014 में शी ने भारत की यात्रा की थी तब मोदी ने उनके स्वागत-सत्कार में कोई कसर नहीं छोड़ी थी। लगा कि इसका लाभ भारत को अपना राष्ट्रीय हित साध करने में निश्चित ही होगा पर बहुत शीघ्र यह आशा निर्मूल साबित हो गई। चीन ने पाकिस्तान में रह रहे और अन्तरराष्ट्रीय आतंकवादी करार किए जा चुके हाफिज सईद को बचाने के लिए अपनी राजनयिक ढाल का लगातार प्रयोग जारी रखा है।

भारत की परमाणु ईंधन सप्लाई ग्रुप की सदस्यता को भी अधर में रखा। पाकिस्तान का बेहिचक समर्थन करने में चीन ने कोई कसर नहीं छोड़ी। जिस वन बेल्ट वन रोड और चाइना-पाकिस्तान इकनॉमिक कोरिडोर को चीन आने वाले वर्षों में अपने और पूरे एशिया के लिए महत्त्वपूर्ण समझता है, उसे लेकर भी भारत के मन में आशंका है कि इसका एक मकसद भारत की सामरिक घेराबंदी है। इसे भारत के गले में जहरीले मोतियों की माला पहनाने वाले अभियान का अभिन्न हिस्सा ही समझा जाता है। इतना ही नहीं हाल के महीनों में नेपाल और मालदीव में चीन ने भारत के राजनयिक प्रभाव

को कम करने में या उसके प्रति बैरभाव रखने वाले तत्वों को प्रत्यक्ष-परोक्ष समर्थन देने में कसर नहीं छोड़ी है। तब क्या यह समझा जाए कि भारत के सामने चीन के साथ समझौते का कोई विकल्प नहीं बचा है? ऐसा सोचना सही नहीं होगा।

सच है कि भारत चीन के साथ सैनिक या आर्थिक टक्कर लेने की हालत में नहीं है और दोनों की सैनिक और आर्थिक क्षमता की तुलना करना भी नादानी है परंतु इस बात को अनदेखा नहीं किया जाना चाहिए कि जब से अमेरिकी राष्ट्रपति ट्रंप ने चीन के विरुद्ध व्यापार युद्ध (अर्थात कड़े आर्थिक प्रतिबंधों की घोषणा की है, तब ही से चीन के लिए नये साथियों की तलाश वाला मुद्दा प्राथमिक बन गया है। इसी कारण लंबे अरसे से तनावपूर्ण रहे चीन-जापान संबंध भी अब सुधरते नजर आ रहे हैं। यहां इस बात को दोहराने की जरूरत है कि चीन-अमेरिका व्यापार बहुत बुरी तरह चीन के पक्ष में असंतुलित है। लगभग तीन अरब डॉलर के आंकड़े तक यह राशि पहुंच चुकी है। ट्रंप के प्रतिबंध से अमेरिकी उपभोक्ताओं सहुलियतें घटेंगी, परचीनी कंपनियों को नुकसान कहीं अधिक होगा जो इनका निर्माण करते हैं।

चीनी नेता इस बात से भी बहुत खिन्न है कि अमेरिकी राष्ट्रपति ट्रंप ने उनसे कन्नी काटते हुए उत्तर कोरिया के नेता किम जांग उन से सीधे संवाद शुरू कर दिया है। चीनियों को यह बात नागवार गुजरी है। शी जिनपिंग पुनर्निर्वाचन के बाद माओ की तरह सर्वशक्तिमान महामानव नेता के रूप में प्रकट हुए हैं, जो चीन को उसकी खोई हस्ती फिर से वापस दिलाना चाहते हैं। निश्चय ही वह एशिया में अमेरिका जैसी किसी बाहरी शक्ति का प्रभाव बढ़ते नहीं देखना चाहते। चूंकि इस समय रूस के नेता पुतिन पश्चिमी मोर्चे पर अमेरिका और यूरोप के साथ आक्रामक राजनयिक तेवर अख्तियार किए हुए हैं, चीन इस अवसर का लाभ उठा अमेरिका के व्यापार युद्ध की चुनौती का सामना करने के लिए भारत के साथ कम से कम तात्कालिक सुलह का मार्ग चुन सकता है। भारत के लिए यह समय संभावनाओं के साथ खतरनाक चुनौतियों से भरा है। आगामी वर्ष लोक सभा चुनाव का है, और मोदी के लिए विदेश नीति के क्षेत्र में ठोस उपलब्धि आंतरिक नीतियों में शिथिलता या महंगाई आदि का प्रतिकार करने में सहायक हो सकती है। हालांकि, अनौपचारिक शिखर वार्ता के बाद न तो कोई प्रेस सम्मेलन होता है, और न ही संयुक्त विज्ञप्ति की परंपरा है। तब भी इस मुलाकात के तटस्थ मूल्यांकन को टाला नहीं जाना चाहिए।

जनसत्ता

Date: 25-04-18

साख बनाम संदेह

संपादकीय

आखिरकार उपराष्ट्रपति और राज्यसभा के सभापति वेंकैया नायडू ने कांग्रेस समेत सात विपक्षी दलों की तरफ से सर्वोच्च न्यायालय के प्रधान न्यायाधीश के खिलाफ लाए गए महाभियोग प्रस्ताव को खारिज कर दिया। जिस तरह देश के कई जाने-माने संविधानविदों ने इस प्रस्ताव के खिलाफ अपनी राय जाहिर की थी, उसे देखते हुए उपराष्ट्रपति के निर्णय पर शायद ही किसी को हैरानी हुई हो। यों इस प्रस्ताव को विचार और बहस के लिए स्वीकार कर भी लिया जाता, तो इसका पारित हो पाना नाममुकिन था, क्योंकि संसद में इसे पारित कराने लायक संख्याबल विपक्ष के पास नहीं था। यही नहीं, तृणमूल कांग्रेस, द्रमुक और राजद जैसी पार्टियां महाभियोग के प्रस्ताव से सहमत नहीं थीं। खुद कांग्रेस के भीतर इस

मामले में एक राय नहीं रही है। ऐसे में, प्रस्ताव लाने वाले दलों की रणनीतिक कमजोरी भी जाहिर हुई है। राज्यसभा के सभापति ने प्रस्ताव खारिज करने के पीछे कुल बाईस कारण बताए हैं। इनमें से मुख्य कारणों में एक यह है कि प्रस्ताव लाने वालों ने प्रधान न्यायाधीश के खिलाफ अपने आरोपों के समर्थन में कोई ठोस साक्ष्य और तथ्य पेश नहीं किए थे; इसके बजाय संदेहों और अटकलों को आधार बनाया था; ठोस साक्ष्यों और तथ्यों के बजाय 'ऐसा लगता है' और 'हो सकता है' जैसी शब्दावली का प्रयोग किया गया था।

ऐसे में प्रधान न्यायाधीश के खिलाफ जांच का आदेश देने से न्यायपालिका की साख को गंभीर चोट पहुंचती। प्रस्ताव में एक आरोप मुकदमों के आबंटन और उनकी सुनवाई के लिए जजों के चयन में मनमानी का था। चार वरिष्ठ जजों के संवाददाता सम्मेलन से यह विवाद पहले ही तूल पकड़ चुका था। लेकिन उपराष्ट्रपति ने अनेक कानूनविदों से विचार-विमर्श के बाद कहा है कि 'मास्टर ऑफ द रोस्टर' होने के कारण प्रधान न्यायाधीश को मुकदमों के आबंटन का अधिकार है। उन्होंने प्रस्ताव खारिज करते हुए यह भी जोड़ा है कि परंपरा के खिलाफ नोटिस का मसविदा सार्वजनिक करना गलत है; बारीकी से विचार किए बगैर महाभियोग से न्यायपालिका में भरोसा कम होता है।

सभापति ने अपने निर्णय में कहा है कि सात विपक्षी दलों के राज्यसभा के चौंसठ सदस्यों द्वारा हस्ताक्षरित नोटिस में प्रधान न्यायाधीश के खिलाफ लगाए आरोपों के समर्थन में पेश किए गए दस्तावेजों से कोई पर्याप्त साक्ष्य सामने नहीं आता है और संविधान के अनुच्छेद 124 (4) के तहत उन्हें महाभियोग के तहत हटाने का कोई मामला नहीं बनता है। दूसरी तरफ कांग्रेस ने उपराष्ट्रपति के निर्णय को जल्दबाजी में लिया गया निर्णय करार दिया है। कांग्रेस का कहना है कि संबंधित आरोपों के सबूत और अन्य दस्तावेज सीबीआइ तथा अन्य जांच एजेंसियों के पास हैं; अगर नोटिस स्वीकार कर जांच के लिए समिति गठित की जाती, तो सबूत और गवाह पेश किए जाते।

बहरहाल, प्रस्ताव खारिज होने के बाद भी यह प्रकरण खत्म होने के आसार फिलहाल नहीं दिखते। कांग्रेस ने राज्यसभा के सभापति के निर्णय को असंवैधानिक बताते हुए सर्वोच्च न्यायालय में चुनौती देने का इरादा जताया है। लेकिन इस पर सुनवाई कौन करेगा, इसका फैसला कैसे होगा, क्योंकि प्रधान न्यायाधीश ही तो मास्टर ऑफ द रोस्टर हैं। फिर, कांग्रेस कानूनी आधार क्या लाएगी, कौन-से उदाहरण पेश करेगी, क्योंकि प्रधान न्यायाधीश के खिलाफ महाभियोग प्रस्ताव पहले कभी नहीं लाया गया था। चाहे मुकदमों का आबंटन हो या जजों की नियुक्ति के लिए चली आ रही कोलेजियम प्रणाली, दोनों को आदर्श व्यवस्था नहीं कहा जा सकता। पर इन मसलों का सामना करने का तरीका यह नहीं हो सकता कि शक्तियों के दुरुपयोग की धारणा बना ली जाए। इस तरह के विवाद से किसी को कोई राजनीतिक लाभ हो या न हो, न्यायपालिका की साख और गरिमा को जरूर चोट पहुंचती है।

Date: 25-04-18

अफस्पा से राहत

संपादकीय

मेघालय से अफस्पा (सशस्त्र बल **विशेषाधिकार** अधिनियम) का हटाया जाना एक **सकारात्मक** कदम है। सेना को विशेषाधिकारों से लैस करने वाले इस बेहद कड़े कानून को पूर्वोत्तर की जनता ने लंबे समय तक एक खतरनाक और दमनकारी कानून के रूप में देखा और झेला है। इस कानून की आड़ में कई बेगुनाह नौजवान सैन्य कार्रवाई का शिकार बने। इसलिए अफस्पा को हटाने की लंबे समय से मांग होती रही है। मणिपुर की सामाजिक कार्यकर्ता इरोम शर्मिला तो इस कानून के विरोध में सोलह साल तक अनशन पर रहीं। अभी तक मेघालय से लगने **वाली** असम की सीमा पर चालीस फीसद इलाके में यह कानून लागू था। त्रिपुरा और मिजोरम के बाद मेघालय तीसरा **राज्य** है जहां से अफस्पा को पूरी तरह हटा लिया गया है। अरुणाचल **प्रदेश** में भी इसका दायरा घटा दिया गया है। **अरुणाचल** में पिछले साल सोलह पुलिस थाना क्षेत्रों में इसे लागू किया गया था, लेकिन अब यह असम से लगने वाली सीमा के आठ थाना क्षेत्रों और म्यांमा सीमा से सटे तीन जिलों में ही लागू रहेगा।

अफस्पा छह दशक पुराना कानून है। इसे एक सितंबर 1958 को असम, मणिपुर, त्रिपुरा, अरुणाचल प्रदेश, मेघालय, मिजोरम और नगालैंड में लागू किया गया था। इन राज्यों की सीमाएं चीन, म्यांमा, भूटान और बांग्लादेश से मिलती हैं। इन राज्यों को राष्ट्रीय सुरक्षा और कानून-**व्यवस्था** की दृष्टि से काफी संवेदनशील बताते हुए इस कानून को लागू किया गया था। वर्ष 1986 में हुए मिजो समझौते के तहत मिजोरम में अफस्पा स्वत: ही खत्म हो गया था। इसके बाद 2015 में कानून-व्यवस्था की समीक्षा के बाद **त्रिपुरा** से भी अफस्पा हटा लिया गया। दरअसल, **पूर्वोत्तर** का उग्रवाद सरकारों के लिए बड़ी चुनौती रहा है। पूर्वोत्तर राज्यों में अलग प्रदेश की मांग को लेकर अलगाववादी संगठन हिंसा का सहारा लेते रहे हैं। इन संगठनों को देश के बाहर से मदद मिलती है, यह तथ्य भी किसी से छिपा नहीं है। अफस्पा का मूल मकसद उग्रवादी हिंसा को कुचलना था। लेकिन इस कानून की आड़ में नागरिकों पर जो जुल्म हुए, वे रोंगटे खड़े कर देने वाले थे।

जम्मू-कश्मीर में भी अफस्पा 1990 से लागू है। हालांकि हालात को देखते हुए केंद्र ने वहां से इसे हटाने से इनकार कर दिया है। अफस्पा के तहत सेना को **असीमित** अधिकार हासिल हैं। इस कानून के तहत सेना किसी को भी बिना कारण बताए गिरफ्तार कर सकती है, बिना वारंट किसी भी घर की तलाशी ले सकती है। जब ऐसा कानून हाथ में आ जाता है और उसे इस्तेमाल करने वाले बेलगाम होने लगते हैं और किसी के प्रति उनकी जवाबदेही **नहीं** बनती तो हालात सुधरने के बजाय अराजक हो जाते हैं। हालांकि गृह मंत्रालय ने अब हालात सुधरने का दावा किया है।

मंत्रालय का कहना है कि पूर्वोत्तर राज्यों में **हिंसा** में तिरसठ फीसद की कमी आई है। उग्रवादी **हिंसा** में नागरिकों की मौतों में तिरासी फीसद और सुरक्षाकर्मियों की मौतों में चालीस फीसद की गिरावट आई है। **वर्ष** 2009 में संयुक्त राष्ट्र मानवाधिकार परिषद ने भी इसे **औपनिवेशिक** कानून बताते हुए भारत के सभी हिस्सों से हटाने की मांग की थी। राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए अफस्पा को भले जरूरी माना जाए, लेकिन इसकी दमनकारी संभावनाओं को रोकने के लिए क्या संशोधन किए जाएं इस विचार किया जाना चाहिए।

जटिल रिश्तों का अगला कदम

जोरावर दौलत सिंह, फैलो, सेंटर फॉर पॉलिसी रिसर्च

भारत-चीन संबंध हमेशा से बहुत जटिल रहे हैं। समाज विज्ञान में प्रचलित मुहावरे 'प्रतिस्पद्र्धा-सहयोग-विवाद' के लिहाज से देखें, तो हम इसके अंतर्विरोधों या विरोधाभासी प्रवृत्ति को समझ सकते हैं। 2017 ने यह सब होते हुए देखा- बेल्ट ऐंड रोड पहल (बीआरआई) पर भारत का सख्त ऐतराज, शंघाई सहयोग संगठन (एससीओ) में भारत का प्रवेश, उत्तरी सीमा पर डोका ला का नाटकीय संकट, ब्रिक्स में बहुपक्षीय सहयोग का बढ़ता माहौल और आर्थिक भागीदारी को बढ़ावा देना। दोनों देशों के रिश्तों का सबसे अच्छा उदाहरण हिमालय में खड़ा हुआ तनाव है, तीन दशक में पहली बार दोनों देश इस तरह आमने-सामने आए।

भारत-चीन संबंधों में आए इस पेच का आखिर राज क्या है? इसके सूत्र किसी घाटी या ऊपरी हिमालय की सकरी सड़कों में नहीं मिलेंगे, बल्कि इसके सूत्र बड़े ही व्यवस्थित तरीके से निर्मित उन नकारात्मक छवियों में छिपे हैं, जिनका निर्माण दोनों पक्षों ने कभी परस्पर विदेश नीतियों, तो कभी भू-राजनीतिक भरोसे के संकट के तौर पर किया। भारत जहां उप-महाद्वीप में चीन द्वारा आर्थिक और राजनीतिक कद बढ़ाने के प्रयास को उसके अतिक्रमण और पड़ोसी द्वारा अपनी प्रभुसत्ता पर सवाल के रूप में देख रहा था, वहीं चीन अपने प्रमुख रणनीतिक प्रतिद्वंद्वियों अमेरिका और जापान के साथ भारत की बढ़ती और गहरी सैन्य भागीदारी को अपनी सुरक्षा के भविष्य के लिए चुनौती मान रहा था। इस बात से आश्वस्त होते हुए कि अब एक मुखर नीति ही इस दिशा में कारगर होगी, दिल्ली और बीजिंग, दोनों ने ही बीते दो वर्षों में परस्पर संतुलन बनाने की दिशा में काम शुरू किया और कई बार इसके लिए दबाव की रणनीति भी अपनाई है। भारत का अमेरिका की ओर, तो चीन का पाकिस्तान की ओर कुछ इस तरह झुकाव देखने में आया, जैसा कि शीतयुद्ध के दौरान भी नहीं देखने को मिला था।

इन सबके बावजूद दोनों पक्षों को न तो कोई रियायत मिली, न ही द्विपक्षीय बातचीत की शर्तों में कोई सुधार आया। मसलन, एनएसजी सदस्यता, पाकिस्तान प्रायोजित आतंकवाद, जलविद्युत सहयोग जैसे कई महत्वपूर्ण मसले थे, जहां चीन से कोई पुख्ता आश्वासन मिलना चाहिए था, लेकिन नहीं मिला। बीआरआई पर भारत के बहिष्कार के साथ ही चीन ने उसे न सिर्फ अपनी एक महत्वाकांक्षी अंतरराष्ट्रीय पहल के विरोधी के तौर पर देखा, बल्कि एशिया में अपने लिए सबसे अविश्वसनीय और असहयोगी पड़ोसी भी मानने लगा। बीजिंग ने यह भी माना कि दक्षिण एशिया और हिंद महासागर में अपनी चीन विरोधी रणनीति में भारत अब खुलकर बाहरी ताकतों को शामिल करने लगा है। भारत के तिब्बत कार्ड ने इसमें और इजाफा किया। इस बेबुनियाद स्पद्र्धा और भारतीय व चीनी हितों के बढ़ते टकराव के बीच डोका ला ने एक ऐसे बिंदु पर ला खड़ा किया, जहां नरेंद्र मोदी और शी जिनपिंग, दोनों को ही महसूस हुआ कि इन नीतियों से कुछ हासिल होने वाला नहीं और इसमें कुछ बदलाव की जरूरत है।

अच्छी बात है कि दोनों ही नेतृत्व एक-दूसरे की कोशिशों को सही परिप्रेक्ष्य में देखने की मंशा रखते हैं। भारत-चीन मतभेद दूर कर उन्हें राजनीतिक परिपक्वता और रिश्तों के समग्र ढांचे में बहाल करने का दौर शुरू हुआ है। सुषमा स्वराज और वांग यी की हालिया बैठक से निकले संदेश एक निर्देश की तरह थे। अब तक 'आधा गिलास खाली' की कहानी आगे बढ़कर 'आधा गिलास भरा है' तक पहुंच गई है। भारतीय विदेश मंत्री का बयान कि- 'हमारी समानताएं, हमारे मतभेदों पर भारी हैं' या चीनी विदेश मंत्री का बयान- 'हमारे आम हित हमारे मतभेदों से कहीं दूर हैं' बहुत कुछ

कहते हैं। सच है कि हम पहले भी ऐसे **वक्तव्य** सुनते आए हैं, लेकिन यह भी सच है कि इस वक्त संदर्भ नए हैं, क्योंकि दोनों ही नेतृत्व संबंधों की जटिलता के इस दौर में स्थिरता वापस लाने की उम्मीद कर रहे हैं।

चीन के साथ रिश्तों को पुनर्जीवन देने के सरकार के फैसले ने उस सामरिक समुदाय को नए तरह से सोचने का मौका दे दिया है, जो इसके नए-नए अर्थ निकालने को बेचैन है। दिल्ली वास्तव में एक ऐसी नीति को ठोक-बजा रही थी, जिसका कोई नतीजा नहीं निकलने वाला। सबसे पहले तो सरकार के अंदर बैठे यथार्थवादी लोग भी यह समझने लगे हैं कि चीन के साथ प्रतिकूल संबंधों से कुछ नहीं **हासिल** होने वाला और यह सुरक्षा संबंधी दुश्वारियां बढ़ाने वाला होगा, जिसे न तो भारत खुद हल कर सकने की स्थिति में है, न ही वे बाहरी शक्तियां इसमें सहायक हो पाएंगी, जो उप-महाद्वीप में चीन के बढ़ते प्रभुत्व पर लगाम लगाने को **उत्साहित** दिखाई देती रही हैं। दूसरा, भारत-चीन तनाव **पाकिस्तान** को मजबूत होने का अवसर देता है, जबकि सच यह है **कि** चीन खुद भी संतुलित क्षेत्रीय भूमिका में **दिखते** हुए दिल्ली के साथ एक रचनात्मक समीकरण बनाना ही पसंद करेगा। तीसरे, भारत-चीन विवादास्पद संबंध अमेरिका और जापान के साथ भारत की सौदेबाजी क्षमता को भी प्रभावित करता है। दिल्ली ने यह भी महसूस किया होगा कि बीजिंग के साथ उनके मतभेदों के बावजूद वाशिंगटन और टोक्यो, दोनों **ही** वास्तव में चीन के साथ अपनी परस्पर निर्भरता को महत्व देते हैं। कोरियाई परमाणु मुद्दा और उत्तर पूर्व एशियाई भू-**राजनीति** बदलने के प्रयासों पर चीन-अमेरिका सहयोग सिर्फ एक उदाहरण है। जापान भी चीन के साथ अपने 300 **बिलियन** डॉलर के व्यापारिक संबंधों के साथ सुनिश्चित कर देना चाहता है कि वह दुनिया की दूसरी सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था से जुड़ा हुआ है। उसने बीआरआई में भी सशर्त सहयोग की पेशकश कर रखी है।

भारत सरकार भी स्वीकार कर रही है कि चीन के साथ आर्थिक सहयोग का वादा भू-**राजनीतिक** स्थिरता के माहौल में ही सकारात्मक नतीजे दिला सकता है। **स्वाभाविक** है कि द्विपक्षीय संबंधों में अनिश्चितता नए **आर्थिक** खिलाड़ियों को मैदान में कूदने का अवसर देगी। मोदी ने चीन के साथ एक भव्य 'विकासपरक साझेदारी' की जैसी कल्पना की थी, अब उसे फिर से व्यावहारिक रूप देने की कोशिश **शुरू** हुई है। सौभाग्य से अब दोनों राजधानियों के बीच साझा भरोसे का माहौल बना है कि शत्रुता के भाव से दोनों के हितों को ठेस पहुंची है। लेकिन अभी बहुत कुछ होना **बाकी** है।

The Indian EXPRESS
JOURNALISM OF COURAGE

Date: 25-04-18

The third tier

As Panchayati Raj Act turns 25, country must debate why grassroots churn has not found expression in politics above

Editorial

Political legitimacy arising from active participation of people in grassroots governance is regarded as a litmus test for democracy. On April 24, 1993, India took a decisive step in meeting that objective. The Panchayati Raj Act conferred constitutional status on Panchayati Raj Institutions (PRIs). Though there were long debates on local-level democracy in the Constituent Assembly, in its first 42 years, the republic's Constitution reposed trust in the two-tier form of government — PRIs found a mention only in

Directive Principles of State Policy. The Panchayati Raj Act not only institutionalised PRIs as the mandatory third tier of governance, it transformed the dynamics of rural development by giving a say to a large section of the people — significantly, women — in the administration of their localities. Yet, the churn precipitated by the Act has largely remained unexpressed in national-level politics. There are very few channels that connect the grassroots leader to the politics at higher levels.

Nowhere is this more true than in the representation of women. Women constitute more than 45 per cent of the nearly three million panchayat and gram sabha representatives in the country. In contrast, women's representation in the current Lok Sabha is barely 11 per cent. It's easy to dismiss the women in panchayats as proxies for their male relatives. However, as social scientists have argued, the fact that women come forward to contest elections, attend panchayat meetings and sit with men of different castes and age groups is itself a step towards empowerment. PRIs free women from the compulsion of tailoring politics to male-dictated agendas.

At the same time, the democratic potential of the PRIs remains limited. Most states have merely completed the formality of devolving powers. They have not followed this up with effective devolution, especially with respect to funds. Ideally, the PRIs should be formulating their own plans and executing them. But they remain dependent on Central and state government funds. At many places, PRIs have become adjuncts to Central and state-level administrative agencies. As the country celebrates 25 years of the Panchayat Raj Act, it should also debate why the churn at the grassroots has not found expression nationally.

Date: 25-04-18

Panchayati raj at 25

Every state is progressing, some at snail's pace, others leapfrogging. Much remains to be done.

Mani Shankar Aiyar, [The writer is a former Union Minister for Panchayati Ra]

I write this as I fly to Thiruvananthapuram on April 24 for the Silver Jubilee National Panchayati Raj celebrations organised by the Kerala Institute of Local Administration. It is ironic that while the Left Front in Kerala and the BJP at the Centre, both of which voted against Rajiv Gandhi's historic constitutional amendments on Black Friday, October 13, 1989, are observing this historic anniversary on an impressive national scale, the Congress, more modestly, has left it to its pradesh units to observe the occasion as each deems fit.

It is possible to bemoan the condition of Panchayati Raj in the country 25 years after it received the president's assent and was proclaimed as incorporated in Parts IX and IXA of the Constitution. There is much that remains to be done. But I do not despair because when I asked Rajiv Gandhi how long he thought it would take for us to realise our goals, he smiled and replied, "At least a generation." I was

stunned. "At least a generation — that's 25 years!" But, as usual, Rajiv Gandhi was right — and I was wrong. It has taken a generation to get to where we have and we need perhaps another generation (or more?) to achieve with satisfaction the evolution in grassroots governance and development that inspired the then prime minister to bring in what is arguably his single greatest legacy to the nation.

However, the obverse of the curious fact of political parties who opposed the amendment Bill in 1989 now celebrating the silver jubilee on such a nation-wide scale is that it reflects the national consensus that has evolved around Rajiv Gandhi's original conception that the nation needs constitutional status, sanction and sanctity to ensure the third tier of local self-government. In consequence, Panchayati Raj has been made ineluctable, irreversible and irremovable — in sharp contrast to the four previous decades when local government was whimsical, uncertain, arbitrarily dissolved or even more arbitrarily extended.

It is important to recognise that all states have ensured the full and conscientious implementation of the mandatory provisions of the Constitution on local self-government institutions in both rural and urban India. Moreover, most state legislation has rendered statutory several of the recommendatory provisions of the Constitution such as the 29 and 18 subjects for devolution illustratively set out respectively in the 12th and 13th Schedules.

It is also very important to recognise that successive (central) Finance Commissions have so substantially increased funding to the local bodies, and progressively converted this into untied grants, that panchayats are flush with funds. If chairman NK Singh of the current 15th Finance Commission sees his way to increasing current funding by about 2 per cent of the divisible pool, we would be achieving standards of international best practice in respect of financing local bodies.

Next, it is very important to recognise how deep have been embedded the roots of grassroots democracy in the country. Till the Rajiv initiative that ended our being the "largest but least representative democracy in the world", the total number of elected MPs and MLAs was about 5,000 to represent a population then approaching a billion. Today, we have in our 2.5 lakh panchayats and municipalities some 32 lakh elected people's representatives. Uniquely, SC/ST representation is proportional to SC/ST population ratios in villages, talukas/blocks and districts respectively. Approximately one lakh sarpanches are SC/ST. Most staggering of all is the representation of women: Comprising about 14 lakh members, with some 86,000 chairing their local bodies, there are more elected women representatives (mostly from economically weaker and socially disadvantaged sections) in India alone than in the rest of the world put together!

Also, it must be noted that while the pace of implementation of genuine Panchayati Raj is highly variable — Karnataka and Kerala well in the lead, UP consistently bringing up the rear — every state is progressing, some at snail's pace, others leapfrogging.

What remains?

First and foremost, effective devolution. The 2013 expert committee I chaired laid out in detail how to achieve this through the device of "activity mapping". Further, it is imperative that activity maps be incorporated in the guidelines of all centrally sponsored schemes and that the massive amounts of money earmarked for poverty alleviation in all its dimensions be sent directly to gram panchayat accounts, reinforced by detailed activity maps to ensure genuine "local self-government".

Second, financial incentivisation of the states to encourage effective devolution to the panchayats of the three Fs — functions, finances, functionaries. The World Bank offered me a billon dollar initial IFC soft loan to set up such an incentivisation fund. Unfortunately, the finance ministry turned it down, preferring to look the gift horse in the mouth. But outside funds are not really required if the ministry were to make provision for the domestic funding of such incentivisation.

Third, district planning based on grassroots inputs received from the village, intermediate and district levels through people's participation in the gram and ward sabhas. In 2005, in full acceptance of the recommendations made by the V Ramachandran committee, the Planning Commission issued an extremely gratifying circular on the mechanics of this process — but then sabotaged its own directives largely because the only village the deputy chairman was acquainted with was the one in downtown Manhattan.

Fourth, following the example of Karnataka, to establish a separate cadre of panchayat officials who would be subordinate to the elected authority, not lording it over them, as happens, alas, far too often, especially in states with weak panchayat systems.Much else needs to be done. But for starters these four steps might constitute a useful beginning for second-generation reforms to secure grassroots development through democratic grassroots governance.